राजस्थान की पाठ्यपुस्तकें

शिक्षा विमर्श का यह अंक राजस्थान में भारतीय जनता पार्टी की मौजूदा सरकार के नेतृत्व में बनी पाठ्यपुस्तकों पर केन्द्रित है। यदि कोई भी पुस्तक, और इसमें पाठ्यपुस्तक भी शामिल है, आलोचनात्मक चिन्तन के लिए तैयार नहीं करती तो वह किस रूप में उपयोगी होगी ? शिक्षा का काम बनी-बनाई संरचनाओं को स्थापित और आत्मसात करने के उपकरण के बजाय सोचने-समझने के कौशलों का विकास करना है ताकि बच्चों में विवेकशील चुनाव की योग्यता विकसित हो सके। राज्य द्वारा निर्मित पाठ्यपुस्तकें इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से पहुंचने वाला ज्ञान वैधता का भ्रम पैदा करता है और बच्चों में एक तरह की विश्वदृष्टि का निर्माण करता है। जिन बच्चों तक इनके इतर अन्य पुस्तकें नहीं पहुंचतीं उन बच्चों के लिए यही ज्ञान अंतिम भी होता है। ऐसे में पाठ्यपुस्तकों के संदर्भ में कुछ सवाल महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं कि लाखों बच्चों तक पहुंचने वाली ये पुस्तकें बच्चों के मनोजगत एवं व्यक्तित्व को क्या रूप देना चाहती हैं ? समाज की कैसी संकल्पना बच्चों तक संप्रेषित करती हैं ? क्या पाठ्यपुस्तकें यथार्थ को समझने में बच्चे की मदद करती हैं ? ये पुस्तकें किस तरह की मूल्य संरचना को स्थापित करती हैं ? सामाजिक समता एवं समरसता को बढ़ावा देती हैं या नहीं ? क्या पाठ्यपुस्तकें बच्चे के अनौपचारिक परिवेश से प्राप्त ज्ञान और मूल्यों को विवेकसंगत मानदण्डों की कसौटी पर परखती हैं ?

इन सवालों के प्रकाश में राजस्थान की पाठ्यपुस्तकों को देखें कि कैसे ये पाठ्यपुस्तकें बच्चों में तार्किक और वैज्ञानिक नजरिए के विकास के बजाय मिथक चेतना और अंधविश्वासों को स्थापित करती हैं। इसे हम पाठ्यपुस्तकों में आए कुछ विवरणों के माध्यम से समझने की कोशिश करेंगे। राजस्थान की कक्षा-2 की पाठ्यपुस्तक 'आनन्द पोथी' की शुरूआत 'विनती' से है। वैसे तो प्रार्थना हमारे संस्कारों में इस कदर रची बसी है कि इस पर प्रश्न उठाने से ही किसी को भी लग सकता है कि भला इसमें गलत क्या है ? लेकिन ''हे प्रभू, आप जगत के पालक, हम हैं छोटे-छोटे बालक।.....हाथ जोड़कर करते विनती, सीखें सद्गुण, अक्षर गिनती।'' यहां प्रभू को 'जगत के पालक' बताया जा रहा है और सद्गुण एवं अक्षर गिनती सीखने के लिए भी बच्चों को प्रभू से याचना करनी पड़ रही है ! यदि इस विनती को आगे बढ़ाकर कक्षा-7 की हिन्दी में जयशंकर प्रसाद की कविता 'प्रभो !' के साथ देखें, ''जो तेरी होवे दया दयानिधि तो पूर्ण होता ही है मनोरथ।'' और कक्षा-9 की मधुरिमा के 'हमारे संत और योगी' के साथ मिलाकर पढ़ें जिसका एक अंश शंकराचार्य के बारे में है, ''शंकर की कृपा से बालक पैदा होने पर उन्होंने पुत्र का नाम शंकर रखा।'' इसी पाठ में दो अन्य घटनाएं भी वर्णित हैं, ''वे अपनी माता के बड़े भक्त थे। वे नित्य नदी में स्नान करने जाया करती थीं।....नदी दूर थी। एक दिन उन्हें लौटने में विलम्ब देखकर शंकराचार्य स्वयं ही पता लगाने चल पड़े। उन्होंने आधे रास्ते में माता को थकावट और पसीने से लथपथ देखा, वे लौट रही थीं। चलने में उन्हें बड़ी पीड़ा हो रही थी। शंकराचार्य ने सोचा कि यह नदी तो घर के निकट भी बह सकती है। उन्होंने भगवान से प्रार्थना की, उनकी मातृभक्ति सफल हो गयी। नदी घर के निकट ही बहने लगी।'' दूसरी घटना है, ''मां नदी के किनारे पर खड़ी थीं और आचार्य शंकर पानी में थे कि मगर ने उनका पैर पकड़ लिया। उन्होंने मां से कहा कि मुझे मरना तो है ही यदि इस समय संन्यास लेने की आज्ञा मिल जाए तो मगर मेरा पैर छोड़ सकता है। मां ने कलेजा कड़ा कर संन्यास लेने की आज्ञा दे दी, मगर ने पैर छोड़ दिया।'' और इसी पाठ में शंकराचार्य का दर्शन बताया गया है कि, ''उन्होंने लोगों को समझाया कि कर्म से मुक्ति नहीं होती है, अद्वैत ज्ञान से ही मोक्ष मिलता है।''

ये वे जनश्रुतियां हैं जिन्हें शायद हम सब ने ही सुना होगा। इन प्रसंगों के साथ कहीं भी ऐसा नहीं लिखा हुआ है कि ऐसा कहा जाता है या माना जाता है या ये जनश्रुति हैं बल्कि इन्हें सत्य और ऐतिहासिक घटना के तौर पर इन पुस्तकों में स्थान दिया गया है। ऐसे में इन पाठ्यपुस्तकों से बच्चों की कैसी विश्वदृष्टि बनेगी ? इस बात से एतराज नहीं है कि एक जागरूक शिक्षक जनमानस में बसी इस तरह की जनश्रुतियों का शिक्षाशास्त्रीय उपयोग कर सकता है। बच्चों से इन पर चर्चा की जा सकती है और विवेचना के माध्यम से किन्हीं तार्किक निष्कर्षों पर पहुंचा जा सकता है कि क्या भगवान की प्रार्थना करने से नदी का रास्ता बदला जा सकता है ? क्या मगरमच्छ इंसानी मन की बात समझ सकता है ? क्या मगर संन्यास की बात

सुनकर पैर छोड़ सकता है ? क्या संन्यास लेने से समाज का भला हो सकता है ? यदि सभी लोग संन्यासी हो जाएं तो यह समाज कैसे चलेगा ? क्या प्रार्थना करते रहने से सद्‌गुण और अक्षर-गिनती सीखे जा सकते हैं ? क्या भगवान जैसी कोई चीज होती है ? हमारे पास भगवान को जानने के साधन क्या हैं या हम उसे कैसे जान सकते हैं ? क्या सारे मनोरथ भगवान की दया से पूरे हो सकते हैं ? क्या बिना कोई काम किए हमारा जीवन चल सकता है ? आदि-आदि। लेकिन ये पाठ्यपुस्तकें अपनी प्रस्तुति में इस तरह के सवाल नहीं उठातीं बल्कि ये बच्चों के सम्मुख शंकर (भगवान) को वैद्य या हकीम के तौर पर प्रस्तुत करती हैं और भक्ति या प्रार्थना को कर्म के ऊपर प्रतिष्ठित करती हैं। ऐसे सवाल उठाना इन पाठ्यपुस्तकों का मकसद भी नहीं है। जिस तरह के सवाल इस पाठ -'हमारे संत और योगी'-में दिए गए हैं उनका उदाहरण देखिए, ''आचार्य शंकर का नामकरण किस आधार पर हुआ ?'' या ''आचार्य शंकर ने प्राणियों को क्या उपदेश दिया ?'' पाठ के अंत में ऐसे प्रश्न पूछकर पाठ्यपुस्तकें इन जनश्रुतियों के ज्ञान को वैधता ही प्रदान कर रही हैं। यदि आलोचनात्मक सवाल उठाने का मकसद होता तो इस आशय की बातों की समस्त पाठ्यपुस्तकों में पुनरावृत्ति नहीं होती। भाषा के स्तर पर भी पाठ ऐसी ही भाषा का उपयोग करते हैं जो कि बच्चों के दिमाग में अंधविश्वासों को बढ़ावा देगी जैसे-''पहले मां ने संन्यास की आज्ञा नहीं दी। **दैवयोग से** उन्हें अवसर मिल गया।'' योगी अरविन्द वाले अंश में भी यही भाषा है, ''अरविन्द ने परीक्षा में सफलता प्राप्त की, पर **दैवयोग से** घोड़ा सवारी में विफल होने से अयोग्य घोषित कर दिए गए।'' यदि किसी भी घटना का घटित होना दैवयोग पर ही निर्भर होता है तो फिर बच्चे को कुछ करने की जरूरत ही कहां है ?

ये पाठ्यपुस्तकें अपना साफ मकसद लेकर चलती हैं, जिनका उल्लेख संपादकों ने बार-बार अपने 'दो शब्दों' में या शिक्षकों और अभिभावकों के लिए लिखे निर्देशों में किया है कि ''इनके पठन से छात्रों को अपने देश के महान पुरुष, भारतीय संस्कृति, भारत के जीवन-मूल्य, भारत के गौरवशाली अतीत तथा भारत के प्रसिद्ध और दर्शनीय स्थलों का न केवल ज्ञान अपितु उनके प्रति मन में श्रद्धा जाग्रत हो सके।'' यही श्रद्धा विभिन्न रूपों में कक्षा-2 से 12वीं तक की पाठ्यपुस्तकों में सतत प्रवाहमान है। और इस श्रद्धा का एक उदाहरण कक्षा सात की सामाजिक विज्ञान की पाठ्यपुस्तक के पहले पाठ के पहले पृष्ठ पर दिया है। बच्चे अपने माता-पिता के चरण स्पर्श कर रहे हैं। यह चरणस्पर्शी संस्कृति बच्चों के मन में श्रद्धा उत्पन्न करती है और श्रद्धा का एक मतलब होता है कि बिना सोचे-समझे चीजों को मान लेना और किसी भी प्रकार के सवाल न करना। यदि बच्चा सवाल करने लगेगा तो सबसे पहले श्रद्धा के ही पैर उखड़ेंगे। समस्त पाठ्यपुस्तकों को देखकर लगता है कि बच्चे की प्रश्नाकुलता को खत्म करना और किताबों में कही जा रही बातों को बिना सोचे-समझे आत्मसात करा देना ही इनका मकसद है। कहा ये जाता है कि शिक्षा विवेकशील चिन्तन का विकास करती है। लेकिन ये किताबें विवेकशील चिन्तन के ऊपर श्रद्धा को प्रतिष्ठित करती हैं। पाठ्यपुस्तकों में कविताओं के नाम पर ये तुकबन्दियां और वर्णित घटनाएं बच्चे के किस प्रकार के मनस का निर्माण करेंगी ? ''हे प्रभू, आप जगत के पालक, हाथ जोड़कर करते विनती, सीखें सद्‌गुण, अक्षर गिनती।'' प्रभू की सत्ता को एक तार्किक, वैज्ञानिक, शाश्वत और सार्वभौमिक सत्य के तौर पर स्थापित करना एवं सद्‌गुणों को अपने परिवार-परिवेश से सीखने के बजाय हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हुए सीखना और साथ ही प्रार्थना से ही अक्षर-गिनती सिखाने की तुकबन्दी इन किताबों को हास्यास्पद बनाती है। कल्पना की जा सकती है कि ये किताबें एक ऐसे अंधविश्वासी और धर्मभीरू समाज का ही निर्माण करेगी जहां विवेक और मानवीय श्रम से अर्जित की जा सकने वाली उपलब्धियों के स्थान पर विद्यार्थी भगवान के सामने नतमस्तक होंगे और जो कम्प्यूटर खोलने से पहले ईश्वर नमन करेंगे और कम्प्यूटर के स्क्रीन सेवर पर गणेश जी की तस्वीर रखेंगे।

इन पाठ्यपुस्तकों की एक बड़ी कमजोरी यह भी है कि ये पाठ्यपुस्तकें किसी भी तरह से हमारे वर्तमान यथार्थ को समझने में मदद नहीं करतीं बल्कि यथार्थ को समझने की जगह बच्चों में अतीत के गौरवगान और मिथक चेतना के प्रसार का काम करती हैं। बच्चे के लिए ऐसे अवसर कहीं भी नहीं हैं कि वह अपने यथार्थ का सामना करते हुए उसे समझें और अपने लिए किन्हीं आदर्शों का निर्माण करें। अतीत प्रेम के चलते ऐसी चीजें खोजना मुश्किल हो जाता है जो कि हमारे वर्तमान समाज ने खोजी हैं। ज्ञान का अनुसंधान वेदों, पुराणों, उपनिषदों में हो ही चुका है ! अब मानव जाति को कोई भी काम करने की क्या जरूरत है ? चिकित्सा में चरक और सुश्रुत अंतिम संहिताएं लिख ही चुके हैं। मनु ने समाज की आदर्श व्यवस्था की खोज कर ली थी। महाभारत आपको अत्याधुनिक क्लोन विधि के बारे में बता ही चुकी है। विमान

निर्माण का जिक्र तो रामायण में है ही। अब बच्चे के लिए जानने-समझने और खोजने के लिए कुछ बचा ही नहीं है। ऐसे में बच्चा क्या करे ? बच्चा माला लेकर जप करे ! 'कर्म से मुक्ति नहीं होती है' में कर्म का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है। ये पाठ्यपुस्तकें यथार्थ को समझने की बजाय उपदेश देती प्रतीत होती हैं।

ये पाठ्यपुस्तकें न सिर्फ बच्चों के लिए बल्कि शिक्षकों के लिए भी उपदेशात्मक हैं। कक्षा छः की सामाजिक विज्ञान में पृष्ठ ३ पर लिखा है, ''सोचिए, यदि सहायक कर्मचारी कमरों की सफाई न करें या समय पर घण्टी न बजाएं तो आपको कितनी परेशानी होगी ? सबके आपसी सहयोग से ही विद्यालय में व्यवस्थित तरीके से पढ़ाई चल सकती है। इसलिए विद्यार्थियों को भी अनुशासित रहना चाहिए।'' यानी कक्षा या विद्यालय में ऐसा माहौल रचने की जरूरत नहीं है जिसमें कि बच्चे मिलकर काम करें। सारा ज्ञान बच्चों में उड़ेल देने की मंशा साफ जाहिर होती है। ''कक्षा के होशियार बच्चों को कमजोर सहपाठियों की सहायता करनी चाहिए।'' बच्चों में होशियार और कमजोर का यह बंटवारा किस आधार पर किया गया है ? बच्चों के लिए ''सोचो और करो-बड़े बुजुर्गों का सम्मान करें, उन्हें सहयोग दें। उनकी सेवा करें, उनके अनुभवों का लाभ लें।'' क्या बच्चों के सीखने की प्रक्रिया इतनी आसान है कि उन्हें उपदेशों से सिखाया जा सके ? यहां ये भुला दिया गया है कि इस तरह की कोरी लफ्फाजी बच्चों को पसंद नहीं आती। बच्चे परिवार, समाज और शाला से अन्तःक्रिया के माध्यम से इन मूल्यों को ग्रहण करते हैं। शाला ही उनके बीच एक विभाजन की वैधानिक रेखा डाल रही है। पुस्तक निर्माताओं को लगता है कि मूल्यों की घुट्टी पिला देने से शायद बच्चे ये सब सीख जाएंगे। ''अध्यापकों के लिए, विद्यालय के बाहर समुदाय के साथ सम्पर्क करें। इस विषय को विद्यार्थियों के लिए रुचिकर बनाने हेतु शिक्षक पूरक सामग्री का उपयोग करें। प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक के सभी अध्यायों को पूर्व तैयारी से पढ़ाएं।'' शिक्षकों के लिए ये निर्देश प्रथम दृष्ट्या अच्छे लग सकते हैं लेकिन समस्त पाठ्यपुस्तकें अपने कलेवर में ऐसे मौके कहीं नहीं देती कि बच्चे और शिक्षक विद्यालय के बाहर के जीवन से जुड़ें या कुछ करके देखें। अवलोकन, करके देखने, विश्लेषण करने, खोजने के अवसर ये पाठ्यपुस्तकें बच्चों को नहीं देतीं। प्रश्नों के तौर पर कुछ क्रियात्मक कार्यों को देने भर से अपने दायित्व की इतिश्री मान लेती हैं।

अभिभावकों से कहा गया है कि इस पुस्तक के अध्ययन के बाद यह अपेक्षा की गई है कि बच्चों में निम्नलिखित योग्यताएं विकसित होंगी। ''प्राचीन भारत में महिलाओं की सम्मानजनक स्थिति को समझना। प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक विरासत पर गौरवान्वित होना। अपने परिवार, विद्यालय, पास-पड़ौस एवं समुदाय के साथ समायोजित होकर उचित व्यवहार करना। सामुदायिक विकास के खण्ड स्तर पर किए जाने वाले विकास कार्यों की सूची बनाना।'' अब यह तय करना मुश्किल है कि इनमें से योग्यता कौनसी हैं ? बच्चों को प्राचीन भारत में महिलाओं की सम्मानजनक स्थिति को समझने के लिए तो कहा गया है लेकिन वर्तमान में उनकी स्थिति को समझने को लेकर कोई पाठ नहीं है। परिवार, विद्यालय, पास-पड़ौस एवं समुदाय में समायोजित होकर उचित व्यवहार करे। समायोजन और उचित व्यवहार क्या है ? क्या इसका मतलब है चरण स्पर्श करना और सवाल नहीं उठाना ? इन पाठ्यपुस्तकों को देखकर ऐसा लगता है कि बच्चा कहीं गलती से भी सोचने के व्यवसाय में नहीं फंस जाए। यदि सोचने के व्यवसाय में फंसा तो कहीं अतीत की गौरवपूर्ण संस्कृति का मटीयामेट ही न हो जाए। इसी गौरव गान में एक तुकबंदी (पुस्तक में इसे कविता कहा गया है !) देखने लायक है, ''मेरा भारत देश महान, ज्ञानी ऋषियों की है खान। सारा जग देता सम्मान, हम करते इसका गुणगान।'' (आनन्द पोथी, कक्षा-2) भारत देश में ऐसा क्या निराला है जिसका गुणगान करते रहना चाहिए ? बच्चों को गांव का दुर्दांत अभावयुक्त जीवन, पानी की मांग करते किसानों पर लाठीचार्ज, घरेलू हिंसाएं, सांप्रदायिक दंगे, लूटमार और बलात्कार जैसी घटनाओं के बीच ये पंक्तियां बच्चे के दिमाग में कैसे अटेंगी और देश की कैसी छवि बनाएंगीं ? क्या ये सब बच्चे के मन और व्यक्तित्व को यथार्थ और आदर्श के घालमेल से खंडित करने का काम नहीं करेंगी ?

कक्षा सात की सामाजिक विज्ञान की किताब तो सरकारी कार्यक्रमों और नीतियों का प्रचार का माध्यम लगती है। इस पाठ्यपुस्तक में नारों की भरमार है जैसे कि आप किसी सरकारी कार्यालय में चले गए हों और वहां की दीवारों पर चस्पा भद्दे और बदरंग नारों को पढ़ रहे हों। ''शिक्षित बालिका, शिक्षित समाज; शिक्षित समाज, उन्नत राष्ट्र'' या ''बुजुर्गों का सम्मान, अनुभवों की खान।'' या ''वृक्ष लगाओ, पर्यावरण बचाओ'' और यह भी ''सब एक के लिए, एक सबके लिए, सबके हित में ही हमारा हित

है, यही सहकारिता का मूलमंत्र है।'' पाठ्यपुस्तक निर्माता शायद यहां पाठ्यपुस्तकों और किसी सरकारी विभाग से प्रकाशित बुकलेट्स का फर्क भूल गए हैं। सरकार का लोककल्याणकारी चेहरा बनाने की कोशिश देखिए, ''यद्यपि आज हमारी सरकार ने नागरिकों को विकास की अनेक सुविधाएं एवं योजनाएं दी हैं परंतु हम अपनी ही कठिनाईयों के कारण उनसे लाभ नहीं उठा पा रहे।'' या ''हमारी सरकार स्वतंत्रता के बाद से ही गांवों के विकास के लिए प्रयत्न कर रही है।'' क्या यह पुस्तक यह भी बता सकती है कि फिर गड़बड़ी कहां है ? विकास के नाम पर बहाए जाने वाली गंगा का पानी कहां जाकर ठहर जाता है ? कक्षा छः की सामाजिक विज्ञान की पुस्तक पंचायतीराज संस्थाओं और प्रशासन का आदर्श रूप प्रस्तुत करती है और कहीं भी यथार्थ में क्या होता है, इससे जुड़े सवाल या समस्याएं नहीं दी गई हैं। ग्राम पंचायत, पंचायत समिति, नगर पालिका और अन्य संस्थाओं के कामों की लम्बी-लम्बी सूचियां हैं। ''जिला मजिस्ट्रेट के अधीन उपखण्ड स्तर पर उपखण्ड मजिस्ट्रेट एवं तहसील स्तर कार्यपालक मजिस्ट्रेट नियुक्त होते हैं। ये सभी मजिस्ट्रेट अपने-अपने स्तर पर पुलिस अधिकारियों से तालमेल स्थापित कर शान्ति व कानून व्यवस्था बनाए रखते हैं।'' यदि यही बातें इनके दायित्वों के तौर पर बतायी जातीं तो शायद दायित्वों और व्यवहार में आने वाली समस्याओं पर संवाद को आगे बढ़ाया जा सकता था कि फिर समाज में होने वाली घटनाओं में इनकी वास्तविक भूमिका क्या होती है ? फिर क्यों ये शांति और व्यवस्था को नहीं बनाए रख पाते हैं ? यदि यह सब इतना साफ सुथरा मामला है तो फिर बच्चा घड़साना के किसान आन्दोलन या गुजरात, भीलवाडा, करौली के सांप्रदायिक दंगों में पुलिस की भूमिका को जो अखबारों एवं टीवी चैनलों के माध्यम से बच्चों के सामने आईं, को कैसे समझेगा ? ऐसी घटनाओं के समय शांति और व्यवस्था बनाए रखने में प्रशासन और पुलिस क्यों सफल नहीं हो पाई ? या हाल के अनुभवों से बन रही पुलिस और प्रशासन की तस्वीर को बच्चा कैसे समझेगा कि पुलिस और प्रशासन बजाए शांति व्यवस्था को बनाए रखने के इन्हें भंग करने में ज्यादा मदद करते हैं।

इन पुस्तकों के संदर्भ में यह भी महत्त्वपूर्ण है कि ये बच्चे को किस तरह की अस्मिता दे रही हैं और इसका समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? ये पुस्तकें बच्चे को ऐसी अस्मिता से लैस करती हैं जो कि हिन्दू, पुरुषवादी, ब्राह्मणवादी है और जिसकी जड़ें अतीत में जाकर अटक गई हैं। 'हमारा देश महान' या 'हिमालय महान' के नारे हर जगह हैं। समाज के बहुलतावादी स्वरूप की चर्चा कहीं नहीं की गई है। ऐसी एकल अस्मिता जो कहीं भी 'अन्य' को जगह नहीं देती। यह अस्मिता ही समाज में हिंसा, झगड़े और फसादों का कारण भी बनती है।

साहित्य की पुस्तकों को देखकर लगता है कि पाठ्यपुस्तक निर्माता शायद उस पीढ़ी के है जो मानती है कि 70 के दशक के बाद साहित्य लिखा ही नहीं गया और यदि लिखा भी गया है तो वह किसी काम का नहीं है। जयशंकर प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा, बच्चन के बाद शायद साहित्य ही नहीं लिखा जा रहा है। नई कविता, कहानी को कोई स्थान इन पाठ्यपुस्तकों में नहीं दिया गया है और कुछ ऐसे रचनाकार भी हैं जिनकी रचनाओं को इन पुस्तकों में शामिल किया है, उनका नाम साहित्यकारों की सूची में ढूंढ़ना मुश्किल है।

ये पाठ्यपुस्तकें प्रकाशन और छपाई के लिहाज से भी बहुत घटिया हैं और आकर्षित करने के बजाय बच्चों का मोहभंग ही करेंगी। कागज की गुणवत्ता, चित्रों की गुणवत्ता, प्रस्तुति आदि ऐसी है कि इन्हें जोर लगाकर पढ़ना पड़ता है। सभी किताबों में कई-कई पन्ने इतने धुंधले हैं कि अक्षरों को किन्हीं उपकरणों के माध्यम से भी देखना मुश्किल होगा।

प्रो. कृष्ण कुमार ने अपनी पुस्तक 'शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व' में कहा है, ''अगर हम अपने बच्चों को कारगर शिक्षा देना चाहते हैं तो हमें हर हालत में अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियों पर विचार करके चलना होगा। पाठ्यक्रम की समस्या का संबंध इस बात से है कि हम अपने समाज को किस रूप में देखते हैं और किस तरह के समाज की कल्पना से प्रेरित रखना चाहते हैं।'' यह कथन पाठ्यक्रम के बारे में है लेकिन पाठ्यपुस्तकों के संदर्भ में भी उतना ही प्रसांगिक है। और पाठ्यपुस्तक निर्माता इसके बारे में बिल्कुल भी सजग नहीं हैं।

मेरा सुझाव है कि इन पाठ्यपुस्तक निर्माताओं को अच्छी पाठ्यपुस्तकें क्या होती हैं इसके लिए एक बार राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् द्वारा वर्ष 2006 में प्रकाशित पुस्तकों को जरूर देखना चाहिए।

विश्वंभर